

आधुनिक विश्व में चरवाहे



0967CH05



चित्र 1 - पूर्वी गढ़वाल के बुग्याल में चरती भेड़ें।

बुग्याल ऊँचे पहाड़ों पर 12,000 फुट से भी ज्यादा ऊँचाई पर स्थित विशाल प्राकृतिक चरागाह होते हैं। जाड़ों में ये बर्फ से ढके रहते हैं और अप्रैल के बाद हरे-भरे हो जाते हैं। इस समय पहाड़ियों की तलहटी तरह-तरह की घास, जड़ों और जड़ी-बूटियों से भरी रहती है। मॉनसून तक इन चरागाहों में घनी हरियाली छा जाती है और चारों तरफ फूल ही फूल दिखाई देने लगते हैं।

इस अध्याय में आप घुमंतू चरवाहों के बारे में पढ़ेंगे। घुमंतू ऐसे लोग होते हैं जो किसी एक जगह टिक कर नहीं रहते बल्कि रोज़ी-रोटी के जुगाड़ में यहाँ से वहाँ घूमते रहते हैं। देश के कई हिस्सों में हम घुमंतू चरवाहों को अपने जानवरों के साथ आते-जाते देख सकते हैं। चरवाहों की किसी टोली के पास भेड़-बकरियों का रेवड़ या झुंड होता है तो किसी के पास ऊँट या अन्य मवेशी रहते हैं। क्या उन्हें देख कर आपने कभी इस बारे में सोचा है कि वे कहाँ से आए हैं और कहाँ जा रहे हैं? क्या आपको पता है कि वे कैसे रहते हैं, उनकी आमदनी के साधन क्या हैं और उनका अतीत क्या था?

चरवाहों को इतिहास की पुस्तकों में विरले ही जगह मिल पाती है। जब भी आप अर्थव्यवस्था के बारे में पढ़ते हैं – फिर चाहे वह इतिहास की कक्षा हो या अर्थशास्त्र की – सिर्फ़ कृषि और उद्योगों के बारे में ही पढ़ते हैं। कभी-कभार इन कक्षाओं में कारीगरों के बारे में भी पढ़ने को मिल जाता है। लेकिन चरवाहों के बारे में पढ़ने-लिखने को ज़्यादा कुछ नहीं मिलता। मानो उनकी ज़िंदगी का कोई मतलब ही न हो। अकसर मान लिया जाता है कि वे ऐसे लोग हैं जिनके लिए आज की आधुनिक दुनिया में कोई जगह नहीं है; जैसे उनका दौर बीत चुका हो।

इस अध्याय में आप देखेंगे कि भारत और अफ़्रीका जैसे समाजों में चरवाही का कितना महत्व है। यहाँ आप जानेंगे कि उपनिवेशवाद ने उनकी ज़िंदगी पर कितना गहरा असर डाला है और इन समुदायों ने आधुनिक समाज के दबावों का किस तरह सामना किया है। इस भाग में हम पहले भारत और उसके बाद अफ़्रीका के चरवाहों की ज़िंदगी का अध्ययन करेंगे।

1 घुमंतू चरवाहे और उनकी आवाजाही

1.1 पहाड़ों में

जम्मू और कश्मीर के गुज्जर बकरवाल समुदाय के लोग भेड़-बकरियों के बड़े-बड़े रेवड़ रखते हैं। इस समुदाय के अधिकतर लोग अपने मवेशियों के लिए चरागाहों की तलाश में भटकते-भटकते उन्नीसवीं सदी में यहाँ आए थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वे यहीं के होकर रह गए; यहीं बस गए। इसके बाद वे सर्दी-गर्मी के हिसाब से अलग-अलग चरागाहों में जाने लगे। जाड़ों में जब ऊँची पहाड़ियाँ बर्फ़ से ढक जातीं तो वे शिवालिक की निचली पहाड़ियों में आकर डेरा डाल लेते। जाड़ों में निचले इलाके में मिलने वाली सूखी झाड़ियाँ ही उनके जानवरों के लिए चारा बन जातीं। अप्रैल के अंत तक वे उत्तर दिशा में जाने लगते – गर्मियों के चरागाहों के लिए। इस सफ़र में कई परिवार काफ़िला बना कर साथ-साथ चलते थे। वे पीर पंजाल के दर्रों को पार करते हुए कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते। जैसे ही गर्मियाँ शुरू होतीं, जमी हुई बर्फ़ की मोटी चादर पिघलने लगती और चारों तरफ़ हरियाली छा जाती। इन दिनों में यहाँ उगने वाली तरह-तरह की घास से मवेशियों का पेट भी भर जाता था और उन्हें सेहतमंद खुराक भी मिल जाती थी। सितंबर के अंत में बकरवाल एक बार फिर अपना बोरिया-बिस्तर समेटने लगते। इस बार वे वापस अपने जाड़ों वाले ठिकाने की तरफ़ नीचे की ओर चले जाते। जब पहाड़ों की चोटियों पर बर्फ़ जमने लगती तो वे निचली पहाड़ियों की शरण में चले जाते।

पास के ही पहाड़ों में चरवाहों का एक और समुदाय रहता था। हिमाचल प्रदेश के इस समुदाय को गद्दी कहते हैं। ये लोग भी मौसमी उतार-चढ़ाव का सामना करने के लिए इसी तरह सर्दी-गर्मी के हिसाब से अपनी जगह बदलते रहते थे। वे भी शिवालिक की निचली पहाड़ियों में अपने मवेशियों को झाड़ियों में चराते हुए जाड़ा बिताते थे। अप्रैल आते-आते वे उत्तर की तरफ़ चल पड़ते और पूरी गर्मियाँ लाहौल और स्पीति में बिता देते। जब बर्फ़ पिघलती और ऊँचे दर्रे खुल जाते तो उनमें से बहुत सारे ऊपरी पहाड़ों में स्थित घास के मैदानों में जा पहुँचते थे। सितंबर तक वे दोबारा वापस चल पड़ते। वापसी में वे लाहौल

स्रोत क

1850 के दशक में जी. सी. बार्न्स ने काँगड़ा के गुज्जरों का वर्णन इस प्रकार किया था :

‘पहाड़ियों में रहने वाले गुज्जर शुद्ध चरवाहा कबीले के लोग हैं। वे लगभग न के बराबर खेती करते हैं। गहियों के पास भेड़-बकरियाँ होती हैं तो गुज्जर गाय-भैंस पालते हैं। ये लोग जंगलों के किनारे रहते हैं और दूध, घी और मवेशियों से मिलने वाली दूसरी चीज़ें बेच कर अपना पेट पालते हैं। घर के मर्द मवेशियों को चराने ले जाते हैं और कई बार हफ़्तों तक घर नहीं लौटते। इस बीच वे जंगल में अपने रेवड़ के साथ ही रहते हैं। औरतें सिर पर टोकरियाँ और कंधे पर हॉडियाँ लटका कर रोज बाज़ार चली जाती हैं। उनकी हॉडियों में दूध, मक्खन और घी आदि होता है। वे सिर्फ़ इतनी चीज़ें ही बाज़ार में ले जा पाती हैं जितनी घर चलाने के लिए काफ़ी हों। गर्मियों में गुज्जर अपने रेवड़ों को लेकर प्रायः ऊपरी इलाकों में चले जाते हैं जहाँ उनकी भैंसों को न केवल बहुत सारी हरी-भरी बरसाती घास मिल जाती है और वे शीतोष्ण (न ज़्यादा ठंडा, न ज़्यादा गरम) मौसम के हिसाब से खुद को ढाल लेती हैं बल्कि उन ज़हरीली मक्खियों से भी छुटकारा मिल जाता है जो मैदानों में उनका जीना मुहाल किए रहते हैं।’

जी सी बार्न्स, *सेटलमेंट रिपोर्ट ऑफ़ काँगड़ा*, 1850-55.



चित्र 2 – मध्य गढ़वाल के ऊँचे पहाड़ों में एक गुज्जर मंडप. गुज्जर गड़रिये बुग्याल में मिलने वाले रिंगल (एक तरह का पहाड़ी बाँस) और घास से बने मंडपों में रहते हैं। इन्हीं मंडपों का इस्तेमाल कार्यस्थल के रूप में भी होता था। यहाँ गुज्जर घी निकालते थे और उसे बेचते थे। हाल के सालों में वे बसों और ट्रकों में भर कर भी दूध ले जाने लगे हैं। ये मंडप 10,000 से 11,000 फुट की ऊँचाई पर होते हैं। भैंसों इससे ज़्यादा ऊँचाई पर नहीं जा सकतीं।



चित्र 3 - ऊन उतरने का इंतज़ार। हिमाचल प्रदेश स्थित पालमपुर के पास उहल घाटी।

और स्पीति के गाँवों में एक बार फिर कुछ समय के लिए रुकते। इस बीच वे गर्मियों की फ़सलें काटते और सर्दियों की फ़सलों की बुवाई करके आगे बढ़ जाते। यहाँ से वे अपने रेवड़ लेकर शिवालिक की पहाड़ियों में जाड़ों वाले चरागाहों में चले जाते और अगली अप्रैल में भेड़-बकरियाँ लेकर वे दोबारा गर्मियों के चरागाहों की तरफ़ रवाना हो जाते।

आइए, अब ज़रा और पूर्व की तरफ़ चलें। गढ़वाल और कुमाऊँ के गुज़र चरवाहे सर्दियों में **भाबर** के सूखे जंगलों की तरफ़ और गर्मियों में ऊपरी घास के मैदानों - **बुग्याल** - की तरफ़ चले जाते थे। इनमें से बहुत सारे हरे-भरे चरागाहों की तलाश में उन्नीसवीं सदी में जम्मू से उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में आए थे और बाद में यहीं बस गए।

सर्दी-गर्मी के हिसाब से हर साल चरागाह बदलते रहने का यह चलन हिमालय के पर्वतों में रहने वाले बहुत सारे चरवाहा समुदायों में दिखायी देता था। यहाँ के भोटिया, शेरपा और किन्नौरी समुदाय के लोग भी इसी तरह के चरवाहे थे। ये सभी समुदाय मौसमी बदलावों के हिसाब से खुद को ढालते थे और अलग-अलग इलाकों में पड़ने वाले चरागाहों का बेहतरीन इस्तेमाल करते थे। जब एक चरागाह की हरियाली खत्म हो जाती थी या इस्तेमाल के काबिल नहीं रह जाती थी तो वे किसी और चरागाह की तरफ़ चले जाते थे। इस आवाजाही से चरागाह ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल से भी बच जाते थे और उनमें दोबारा हरियाली व ज़िंदगी भी लौट आती थी।

नए शब्द

भाबर : गढ़वाल और कुमाऊँ के इलाके में पहाड़ियों के निचले हिस्से के आसपास पाए जाने वाला शुष्क या सूखे जंगल का इलाका।
बुग्याल : ऊँचे पहाड़ों में स्थित घास के मैदान।



चित्र 4 - गद्दी भेड़ों की ऊन उतार रहे हैं।

सितंबर तक गद्दी ऊँचे मैदानों (धार) से नीचे आने लगते हैं। रास्ते में कुछ समय रुक कर वे अपनी भेड़ों की ऊन उतरवाते हैं। ऊन काटने से पहले भेड़ों को नहला-धुला कर साफ़ किया जाता है।

1.2 पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में

चरवाहे सिर्फ पहाड़ों में ही नहीं रहते थे। वे पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में भी बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे।

धंगर महाराष्ट्र का एक जाना-माना चरवाहा समुदाय है। बीसवीं सदी की शुरुआत में इस समुदाय की आबादी लगभग 4,67,000 थी। उनमें से ज्यादातर गड़रिये या चरवाहे थे हालाँकि कुछ लोग कम्बल और चादरें भी बनाते थे जबकि कुछ भैंस पालते थे। धंगर गड़रिये बरसात के दिनों में महाराष्ट्र के मध्य पठारों में रहते थे। यह एक अर्ध-शुष्क इलाका था जहाँ बारिश बहुत कम होती थी और मिट्टी भी खास उपजाऊ नहीं थी। चारों तरफ सिर्फ कंटीली झाड़ियाँ होती थीं। बाजरे जैसी सूखी फ़सलों के अलावा यहाँ और कुछ नहीं उगता था। मॉनसून में यह पट्टी धंगरों के जानवरों के लिए एक विशाल चरागाह बन जाती थी। अक्टूबर के आसपास धंगर बाजरे की कटाई करते थे और चरागाहों की तलाश में पश्चिम की तरफ चल पड़ते थे। करीब महीने भर पैदल चलने के बाद वे अपने रेवड़ों के साथ कोंकण के इलाके में जाकर डेरा डाल देते थे। अच्छी बारिश और उपजाऊ मिट्टी की बदौलत इस इलाके में खेती खूब होती थी। कोंकणी किसान भी इन चरवाहों का दिल खोलकर स्वागत करते थे। जिस समय धंगर कोंकण पहुँचते थे उसी समय कोंकण के किसानों को **खरीफ़** की फ़सल काट कर अपने खेतों को **रबी** की फ़सल के लिए दोबारा उपजाऊ बनाना होता था।



चित्र 5 - पश्चिमी राजस्थान के थार रेगिस्तान में चरते राइका समुदाय के ऊँट.

यहाँ पाई जाने वाली सूखी और कंटीली झाड़ियों के सहारे सिर्फ ऊँट ही ज़िंदा रह सकते हैं; लेकिन पर्याप्त भोजन पाने के लिए उन्हें बहुत बड़े इलाके में चरना पड़ता है।

धंगरों के मवेशी खरीफ़ की कटाई के बाद खेतों में बची रह गई **ठूठों** को खाते थे और उनके गोबर से खेतों को खाद मिल जाती थी। कोंकणी किसान धंगरों को चावल भी देते थे जिन्हें वे वापस अपने पठारी इलाके में ले जाते थे क्योंकि वहाँ इस तरह के अनाज बहुत कम होते थे। मॉनसून की बारिश शुरू होते ही धंगर कोंकण और तटीय इलाके छोड़कर सूखे पठारों की तरफ लौट जाते थे क्योंकि भेड़ें गीले मॉनसूनी हालात को बर्दाश्त नहीं कर पातीं।

कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में भी सूखे मध्य पठार घास और पत्थरों से अटे पड़े थे। इनमें मवेशियों, भेड़-बकरियों और गड़रियों का ही बसेरा रहता था।

नए शब्द

रबी : जाड़ों की फ़सलें जिनकी कटाई मार्च के बाद शुरू होती है।

खरीफ़ : सितंबर-अक्टूबर में कटने वाली फ़सलें।

ठूठ : पौधों की कटाई के बाद ज़मीन में रह जाने वाली उनकी जड़।

यहाँ गोल्ला समुदाय के लोग गाय-भैंस पालते थे जबकि कुरुमा और कुरुबा समुदाय भेड़-बकरियाँ पालते थे और हाथ के बुने कम्बल बेचते थे। ये लोग जंगलों और छोटे-छोटे खेतों के आसपास रहते थे। वे अपने जानवरों की देखभाल के साथ-साथ कई दूसरे काम-धंधे भी करते थे। पहाड़ी चरवाहों के विपरीत यहाँ के चरवाहों का एक स्थान से दूसरे स्थान जाना सर्दी-गर्मी से तय नहीं होता था। ये लोग बरसात और सूखे मौसम के हिसाब से अपनी जगह बदलते थे। सूखे महीनों में वे तटीय इलाकों की तरफ चले जाते थे जबकि बरसात शुरू होने पर वापस चल देते थे। मॉनसून के दिनों में तटीय इलाकों में जिस तरह के गीले दलदली हालात पैदा हो जाते थे वे सिर्फ़ भैंसों को ही रास आ सकते थे। ऐसे समय में बाकी जानवरों को सूखे पठारी इलाकों में ले जाना जरूरी था।

चरवाहों में एक जाना-पहचाना नाम बंजारों का भी है। बंजारे उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कई इलाकों में रहते थे। ये लोग बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे और रास्ते में अनाज और चारे के बदले गाँव वालों को खेत जोतने वाले जानवर और दूसरी चीज़ें बेचते जाते थे। वे जहाँ भी जाते अपने जानवरों के लिए अच्छे चरागाहों की खोज में रहते।

स्रोत ख

बहुत सारे मुसाफ़िरों के विवरणों में हमें चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी की झलक मिलती है। मिसाल के तौर पर, उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में बुकानन ने मैसूर की अपनी यात्रा के दौरान गोल्ला समुदाय का दौरा किया था। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने लिखा :

‘उनके परिवार जंगलों के किनारे छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं। यहाँ वे थोड़ी-सी ज़मीन पर खेती करते हैं, थोड़े-बहुत जानवर रखते हैं और पास के कस्बों में जाकर दुग्ध उत्पाद बेचते हैं। उनके परिवार बहुत बड़े होते हैं। एक-एक घर में सात-आठ नौजवान आसानी से मिल जाएँगे। उनमें से दो-तीन लोग जंगल में जानवर चराते हैं जबकि बाकी अपने खेत संभालते हैं और कस्बों में जलावन की लकड़ी, छप्पर के लिए पुआल आदि पहुँचाते हैं।’

फ्रांसिस हेमिल्टन बुकानन, *ए जर्नी फ्रॉम मद्रास थ्रू दि कंट्रीज़ ऑफ़ मैसूर, कनारा एण्ड मालाबार* (लंदन, 1807)।

राजस्थान के रेगिस्तानों में राइका समुदाय रहता था। इस इलाके में बारिश का कोई भरोसा नहीं था। होती भी थी तो बहुत कम। इसीलिए खेती की उपज हर साल घटती-बढ़ती रहती थी। बहुत सारे इलाकों में तो दूर-दूर तक कोई फ़सल होती ही नहीं थी। इसके चलते राइका खेती के साथ-साथ चरवाही का भी काम करते थे। बरसात में तो बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर और बीकानेर के राइका अपने गाँवों में ही रहते थे क्योंकि इस दौरान उन्हें वहीं चारा मिल जाता था। पर, अक्टूबर आते-आते ये चरागाह सूखने लगते थे। नतीजतन ये लोग नए चरागाहों की तलाश में दूसरे इलाकों की तरफ़ निकल जाते थे और अगली बरसात में ही वापस लौटते थे। राइकाओं का एक तबका ऊँट पालता था जबकि कुछ भेड़-बकरियाँ पालते थे।

इस तरह हम देख सकते हैं कि चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी कई चीज़ों के बारे में काफ़ी सोच-विचार करके आगे बढ़ती थी। उन्हें इस

क्रियाकलाप

स्रोत क और ख को पढ़िए :

- इन स्रोतों के आधार पर संक्षेप में बताइए कि चरवाहा परिवारों के औरत-मर्द क्या-क्या काम करते थे।
- आपकी राय में चरवाहे जंगलों के आसपास ही क्यों रहते हैं?



चित्र 6 - अपने ऊँट के साथ एक ऊँटपालक.

यह राजस्थान में जैसलमेर के निकट थार का रेगिस्तान है। इस इलाके के ऊँट पालकों को मारु (रेगिस्तान) राइका और उनकी बस्ती को ढंडी कहा जाता है।



चित्र 7 - पश्चिमी राजस्थान में बलोतरा स्थित ऊँट मेला.

ऊँटपालक यहाँ ऊँटों की खरीद-फ़रोख़्त के लिए आते हैं। मेले में मारू राइका ऊँटों के प्रशिक्षण में अपनी महारत का भी प्रदर्शन करते हैं। इस मेले में गुजरात से घोड़े भी लाए जाते हैं।

बात का हमेशा खयाल रखना पड़ता था कि उनके रेवड़ एक इलाके में कितने दिन तक रह सकते हैं और उन्हें कहाँ पानी और चरागाह मिल सकते हैं। उन्हें न केवल एक इलाके से दूसरे इलाके में जाने का सही समय चुनना पड़ता था बल्कि यह भी देखना पड़ता था कि उन्हें किन इलाकों से गुज़रने की छूट मिल पाएगी और किन इलाकों से नहीं। सफ़र के दौरान उन्हें रास्ते में पड़ने वाले गाँवों के किसानों से भी अच्छे संबंध बनाने पड़ते थे ताकि उनके जानवर किसानों के खेतों में घास चर सकें और उनको उपजाऊ बनाते चलें। अपनी रोजी-रोटी के जुगाड़ में उन्हें खेती, व्यापार और चरवाही, ये सारे काम करने पड़ते थे।

आइए, अब देखें कि औपनिवेशिक शासन के दौरान यानी अंग्रेज़ों के ज़माने में चरवाहों का जीवन किस तरह बदला?



चित्र 8 - पुष्कर का ऊँट मेला.



चित्र 9 - मारू राइकाओं की वंशावली बताने वाला.

वंशावली बताने वाला समुदाय का इतिहास बताता है। इस तरह की मौखिक परंपराओं से चरवाहा समुदायों को अपनी पहचान का भाव मिलता है। इन परंपराओं से हम यह पता लगा सकते हैं कि कोई समूह अपने अतीत को किस तरह देखता है।



चित्र 10 - चरागाहों की तलाश में निकले मालधारी चरवाहे। उनके गाँव कच्छ की रन में स्थित हैं।